डॉ० के० ऋषभचन्द्र
एम० ए०, पी-एच० डी०

पउमचरियं के रचनाकाल-सम्बन्धी कतिपय अप्रकाशित तथ्य

जैन-साहित्य में ही नहीं अपितु सारे प्राकृत-वाङ्मय में सम्पूर्ण रामकथा सम्बन्धी काव्यात्मक कृति होने का प्रथम श्रेय पउमचरियं को प्राप्त है, जो महाराष्ट्री प्राकृत में लिखा गया है—जैन परम्परा में आठवें बलदेव दाशरथी राम का अधिकतर प्रचलित नाम पउम (पद्म) है, अतः उनके चरित को 'पउमचरियं' की संज्ञा दी गई है। उत्तरोत्तर काल के जैन-साहित्य में विविध भाषाओं में राम सम्बन्धी जो रचनाएँ उपलब्ध हैं वे अधिकतर पउमचरियं पर ही आधारित हैं. पउमचरियं के इस महत्त्व को देखते हुए उसके रचना-काल पर कुछ विचार-विमर्श करना उपादेय ही होगा. इस ग्रंथ के रचयिता विमलसूरि नाइलवंशीय विजय के शिष्य और आचार्य राहु के प्रशिष्य थे. उन्होंने पउमचरियं की प्रशस्ति में बतलाया है कि इस ग्रंथ की रचना महावीर-निर्वाण के ५३०[१] (या ५२०)[२] वर्ष पश्चात् की गई थी. ग्रंथ के अध्ययन से यह तिथि बिल्कुल असंगत ठहरती है. कितने ही विद्वानों ने इसके रचनाकाल के विषय में अपने-अपने मन्तव्य प्रकट किये हैं. कुछ लोग प्रशस्ति में अंकित समय को ही उचित मानते हैं परन्तु अधिकतर विद्वान् इसको तृतीय या चतुर्थ शताब्दी से लेकर सातवीं आठवीं शताब्दी तक की रचना ठहराते हैं. इन विद्वानों ने जिन-जिन प्रमाणों के आधार पर पउमचरियं का कालनिर्णय किया है उनको यहाँ पर दुहराने की आवश्यकता नहीं.[३] हम पउमचरियं में ही उपलब्ध कुछ नवीन सामग्री पर विचार कर उसी के आधार पर पूर्वस्थापित विविध मन्तव्यों का ऊहापोह करते हुए इस ग्रंथ का काल-निर्णय करने का प्रयत्न करेंगे.

सर्वप्रथम पउमचरियं में वर्णित उन जनजातियों, राज्यों, व राजनैतिक घटनाओं पर विचार करेंगे जिनका भारतीय इतिहास से सम्बन्ध स्थापित किया जा सकता है. राम ने जब वानरदल के साथ रावण पर आक्रमण किया तब केलीगिलों और श्रीपर्वतियों ने राम की सेना में सम्मिलित होकर उनकी सहायता की थी. (पउम०५५-१७). रविषेण ने अपने पद्मपुराण [५५-२९] में इन केलीगिलों को कैलीकिल बताया है. इन लोगों को ऐतिहासिक किलकिलों से मिलाया जा सकता है.[४] उनके राज्य की समाप्ति के तुरन्त बाद वाकाटक विन्ध्यशक्ति ने [२२३ ई०] उनके स्थान पर दक्षिण में अपना राज्य स्थापित किया था.[५] विमलसूरि श्रीपर्वत का बार-बार उल्लेख करते हैं. श्रीपर्वतीयों ने राम की सहायता

---

१. पउमचरियं ११८. १०३. २. उपमितिभवप्रपंचकथा में डा० जेकोबी की प्रस्तावना पृ० १०.

३. विण्टरनित्ज-ए हिस्टरि ऑव इण्डियन लिटरेचर, भा० २, पृ० ४७७ पा० टि० ३. हरदेव बाहरी—प्राकृत और उसका इतिहास, पृ० ६०. डा० जेकोबी—उपमितिभवप्रपंच कथा, प्रस्तावना, पृ० १० और परिशिष्टपर्व, प्रस्तावना पृ० १९.
डा० कीथ—ए हिस्टरि आव संस्कृत लिटरेचर, पृ० ३५. पउमचरियं (१९६२) की प्रस्तावना में डा० वी० एम० कुलकर्णी का लेख—दी डेट आव विमलसूरि.
जैन युग, पुस्तक १, अंक ५, पोष १९८२, पृ० १८० पर श्री के० एच० ध्रुव का लेख.

४. वी० वी० कृष्णराव—ए हिस्टरि ऑव दी अर्ली डाइनेस्टीज ऑव आन्ध्रदेश, पृ० ३९.

५. डा० अल्टेकर—दी वाकाटक-गुप्ता एज (१९५४), पृ० ८९.

Jain Education International · For Private & Personal Use Only · www.jainelibrary.org

तो की ही थी. साथ-साथ यह भी बतलाया गया है कि हनुमान श्रीपुर के राजा बनाये गये थे जो श्रीपर्वत की उपत्यका में बसा हुआ था. हनुमान का अपर नाम श्रीशैल भी है [पउम० १८, ४९, ५५, १६, ८५, २६]. इस प्रकार बार-बार श्रीपर्वत का उल्लेख हमें पुराणों के उन श्रीपर्वतीय आन्ध्रों की याद दिलाता है जो इतिहास में दक्षिण आन्ध्रदेश के इक्ष्वाकु राजवंश के नाम से प्रसिद्ध हैं. इस वंश के राजाओं का काल तृतीय ई० शताब्दी माना गया है.[1] लवण और अंकुश अपनी दिग्विजय में अनेक राज्यों को अपने अधीन करते हैं. उन राज्यों में आनन्द लोगों और अनके राज्य का भी उल्लेख है [पउम० ९८, ६६]. भारतीय इतिहास स्पष्ट बतलाता है कि आनन्द राजवंश का उद्भव ईसा की चतुर्थ शताब्दी में हुआ था और उनके राज्य का क्षेत्र गुण्टूर प्रदेश था. बृहत्फलायन आनन्दों के पूर्ववर्ती शासक थे.[2] इस प्रकार स्पष्ट है कि विमलसूरि चौथी शताब्दी तक के राजवंशों व राज्यों से परिचित थे. पउमचरियं में तीन ऐसी राजनैतिक घटनाएँ हैं जिनका भारतीय इतिहास से सम्बन्ध स्थापित किया जा सकता है. ये संघर्ष बिम्ब-प्रतिबिम्ब रूप में पूर्ण सादृश्य तो नहीं रखते फिर भी उस काल की राजनैतिक हलचल की झलक पउमचरियं की घटनाओं में दृष्टिगोचर होती है. पउमचरियं के अनुसार नर्मदा के दक्षिण में विन्ध्याटवी के क्षेत्र पर कागोनन्द जाति का अधिकार था. उस जाति के नेता रुद्रभूति ने कूववद्दपुर के शासक बालिखिल्य का अपहरण कर उसको बन्दी बना लिया. वह उसके राज्य से धमकी पूर्वक द्रव्य उपार्जित करता था. बालिखिल्य के मंत्री ने उज्जैनी के राजा सिंहोदर से सहायता मांगी परन्तु, उसने बालिखिल्य को मुक्त करवाने में अपनी असमर्थता प्रकट की. राम-लक्ष्मण कूववद्दपुर आये तब उन्होंने अपनी सहायता का बचन दिया. वे वहाँ से आगे बढ़े. विन्ध्याटवी में पहुँच कर उन्होंने रुद्रभूति को परास्त किया और बालिखिल्य को उसके पंजे से छुड़वाया.[3] इस सम्बन्ध में द्वितीयार्ध शताब्दी के भारतीय इतिहास में प्रसिद्ध उज्जैनी के महक्षत्रप रुद्रसिंह प्रथम, आभीर सेनानायक रुद्रभूति तथा एक अन्य आभीरनेता ईश्वरदत्त से मेल बिठाया जा सकता है. रुद्रभूति ने आभीरों की तरफ से जीवदामन को गद्दी से हटाने और रुद्रसिंह को महाक्षत्रप बनाने में भरपूर सहायता की थी. ईश्वरदत्त ने कुछ समय पश्चात् नासिक में अपना अलग राज्य स्थापित किया और रुद्रसिंह को हटाकर स्वयं ही उज्जैनी का महाक्षत्रप बन बैठा. परन्तु दो ही वर्ष के बाद रुद्रसिंह ने अपना पूर्व-अधिकार वापिस प्राप्त कर लिया.[4] इन दोनों वृत्तान्तों में रुद्रभूति समान है. पउमचरियं में सिंहोदर का नाम है व इतिहास में रुद्रसिंह का. यह अन्तर सिर्फ प्रथम दो वर्णों के हेर-फेर का है. सिंहोदर ने रुद्रभूति के विरोध में कदम उठाने में आनाकानी की थी. कारण स्पष्ट है कि रुद्रभूति ने ही रुद्रसिंह को महाक्षत्रप बनाया था. ईश्वरदत्त के नासिक के आभीर राज्य का कागोनन्द जाति के अधीनस्थ नर्मदा से दक्षिण की ओर के क्षेत्र के साथ सम्बन्ध स्थापित किया जा सकता है.

दूसरी घटना इस प्रकार है. दशपुर [मण्डसौर] का राजा वज्रकर्ण उज्जैन के राजा सिंहोदर के अधीन था. चूंकि वह स्वतन्त्र बनना चाहता था, इसलिए उज्जैनी के साथ एक भृत्य की तरह व्यवहार करने में आपत्ति करता था. इस पर सिंहोदर ने वज्रकर्ण पर आक्रमण किया और उसको बन्दी बना लिया. राम और लक्ष्मण को दशपुर पहुँचने पर वज्रकर्ण की दयनीय दशा का पता लगा. उन्होंने सिंहोदर को ललकारा और वज्रकर्ण को उससे मुक्त कराया. साथ ही सिंहोदर का कुछ राज्य भी वज्रकर्ण को दिलवा दिया. यह घटना दशपुर की स्वाधीनता की ओर संकेत करती है.[5] दशपुर की ऐतिहासिक जानकारी इस प्रकार प्राप्त होती है. नासिक के नहपान के शिलालेखों में दशपुर का एक तीर्थ की तरह उल्लेख है, उसका कोई खास राजनैतिक महत्त्व नहीं है. गुप्तकाल में ही दशपुर राजनैतिक धरातल पर आता है. जयवर्मा, सिंहवर्मा, और विश्ववर्मा वहाँ के उत्तरोत्तर स्वाधीन राजा थे. तत्पश्चात् विश्ववर्मा के पुत्र राजा बन्धुवर्मा ने कुमारगुप्त प्रथम [४१४-४५४ ई०] का

---

१. वही पृ० ५९-६०.
२. कृष्णराव—वही पृ० २१५, २३३, ३३६.
३. पउमचरियं, ३४. २५-४९.
४. डा० अल्टेकर—वही, पृ० ५४.
५. पउमचरियं, अ०. ३३.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आधिपत्य स्वीकार कर लिया था. कुमारगुप्त के अन्तिम काल में गुप्त-राज्य की नींव डांवाडोल हुई थी.[1] डा० राय चौधरी का अभिप्राय है कि इसी कुमारगुप्त का उपनाम व्याघ्रपराक्रम था.[2] पउमचरियं के सिंहोदर और व्याघ्रपराक्रम में काफी समानता है. कुछ भी हो, पउमचरियं में वर्णित घटना तथा ऐतिहासिक परिस्थिति से इतना तो सुस्पष्ट है कि दशपुर ईसा की चौथी और पांचवीं शताब्दियों में ही राजनैतिक हलचल का विषय बनता है.

पउमचरियं के अनुसार नंद्यावर्तपुर के महाराजा अतिवीर्य ने अयोध्या के राजा भरत को अपने अधीन करना चाहा. भरत ने यह आधिपत्य स्वीकार नहीं किया तब अतिवीर्य ने अनेक अन्य राज्यों से भरत के खिलाफ युद्ध करने के लिए सहायता मांगी और विजयपुर के शासक को भी अपना एक दूत भेजा. उस समय राम लक्ष्मण वहाँ पर ठहरे हुए थे. यह समाचार पाते ही उन्होंने अतिवीर्य की ओर कूच किया और छद्मरूप से उसको बन्दी बना लिया तथा उलटा भरत का आधिपत्य स्वीकार करने के लिए उसको विवश किया.[3] इस नंद्यावर्त का संबंध प्रभावती गुप्ता के पूना के ताम्रपत्र में आए हुए नंदीवर्धन से बिठाया जा सकता है. आजकल यह स्थान रामटेक के पास में स्थित नगर्धन या नंदर्धन के नाम से परिचित है.[4] नंदीवर्धन वाकाटकों की राजधानी रही है. प्रवरसेन द्वितीय के पुत्र नरेन्द्रसेन के राज्य पर पांचवीं शती के मध्य में नल राजा भवदत्त वर्मा ने आक्रमण करके उसके राज्य को हथिया लिया था.[5] इससे सिर्फ इतना ही स्पष्ट है कि यह क्षेत्र पांचवीं शती के मध्य में राजनैतिक हलचल और संघर्ष का शिकार बना हुआ था.

अब हम पउमचरियं में आयी हुयी अन्य सामग्री का आलोचनात्मक पर्यवेक्षण करेंगे. इक्ष्वाकु राजाओं की वंशावली में आदित्ययश से राम का स्थान बासठवां है.[6] संख्यात्मक दृष्टि से यह स्थान ब्राह्मण पुराणों के विवरण के अधिक नजदीक है. वाल्मीकि रामायण में जो वंशावली आती है उसमें राजा इक्ष्वाकु से राम का स्थान पैंतीसवां है (वा० रा० १. ७० और २. ११०) जबकि पुराणों के अनुसार राम का स्थान अट्ठावनवां है. (भागवत पुराण ९. १-१०) विमलसूरि अपने पउमचरियं को पुराण की भी संज्ञा देते हैं (पउम १. ३२.), तथा प्रशस्ति में स्पष्ट वर्णन है कि इस पुराण में चारों पुरुषार्थों-काम, अर्थ, धर्म और मोक्ष का वर्णन समाविष्ट है. ब्राह्मण पुराणों की परिभाषा का ऐतिहासिक अध्ययन करने से मालूम होता है कि जैसे-जैसे पुराणों का विकास होता गया वैसे-वैसे उनके आवश्यक अंग भी बढ़ते गये. ये चारों पुरुषार्थ परवर्ती काल में ही पुराणों के आवश्यक विषय गिनाये गये हैं.[7] कल्याणविजयजी का मन्तव्य है कि जैन परंपरा में भी ये विषय विक्रम की पांचवीं शती के पूर्व प्रचलित नहीं हुए थे.[8]

पउमचरियं में केवल एक बार श्वेताम्बर मुनि का उल्लेख है. इक्ष्वाकु राजा सोदास के सम्बन्ध में कहा गया है कि अयोध्या से निष्कासित होने पर वे दक्षिण देश की तरफ गये और वहां पर उन्होंने एक श्वेताम्बर मुनि के पास श्रावकव्रत ग्रहण किये (पेच्छइ परिब्भमन्तो दाहिणदेसे सियंबरं पणओ-पउम० २२.७८). जैन परंपरा की दोनों मान्यताओं के अनुसार उनका संघभेद ईसा की प्रथम शताब्दी में हुआ था. फिर भी श्वेताम्बर संघ का स्पष्ट उल्लेख हमें राजा विजय मृगेशवर्मा के देवगिरि के एक शिलालेख में 'श्वेतपटमहाश्रमण संघ' के रूप में मिलता है. यह शिलालेख पांचवीं शताब्दी का है. पउमचरियं में संलेखना को श्रावकों के बारह व्रतों में स्थान दिया गया है तथा उसे चतुर्थ शिक्षापद के रूप में गिनाया

---

१. डा० अल्टेकर—वही, पृ० १५९, १६०, १६६, १६७.
२. पॉलिटिकल हिस्टरि आव एंशियंट इण्डिया (चतुर्थ संस्करण), पृ० ४८०.
३. पउमचरियं, अ० १७
४. वी० सी० ला०...हिस्टोरिकल जोग्राफी आव एशिया इण्डिया, पृ० ३२३ और डी० सी० सरकार—सिलेक्ट इन्सक्रिप्शन्स् भा० १ पृ० ४०७.
५. डा० अल्टेकर—वही, पृ० १०५, १०७.
६. पउमचरियं, अ० ५, २१ और २२.
७. मत्स्यपुराण ५. ३. ६६ और ए० डी० पुसलकर—स्टडीज इन एपिक्स एण्ड पुराणाज् आव इण्डिया, प्रस्तावना. पृ० ४६.
८. कल्याणविजयजी—श्रमण भगवान् महावीर पृ० ३०४.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

गया है (पउम १४. ११५, ६३. ४६) वैसे संलेखना को बारह व्रतों में सम्मिलित नहीं किया जाता है. यह परम्परा किस समय से प्रचलित हुई यह विचारणीय है. आचार्य कुन्दकुन्द ने, जिनका समय पांचवीं शती[1] के लगभग का है, अपने चारित्रपाहुड (२५) में संलेखना को बारह व्रतों में स्थान दिया है और इसी क्रम से गिनाया है. पउमचरियं में "रात्रिभोजनत्याग" को श्रावकों का छठा अणुव्रत बतलाया है. ऐसा केवल एक ही बार उल्लेख है (पउम ६, १२०) ऐसी परम्परा कहाँ, किस समय चली और किसने चलायी, यह भी अध्ययन का विषय है. आगे चलकर चामुण्डराय ने अपने चारित्रसार और वीरनंदि ने अपने आचारसार में इसे श्रावकों का छठा अणुव्रत गिनाया है. इतना सुस्पष्ट है कि यह व्रत पूज्यपाद के समय में प्रचलित था. वे अपनी 'सर्वार्थसिद्धि' में इसका जिक्र करते हैं. पउमचरियं में करीब बीस प्रकार की भिन्न-भिन्न तपस्याओं का उल्लेख आता है. आगम-साहित्य व मूलाचार में इनमें से बहुतों का उल्लेख नहीं मिलता. डा० देव का अभिप्राय है कि तपश्चर्याओं की बहुलता बाद में विकसित हुई है.[2] पउमचरियं के रचयिता ने अपने आपको 'सूरि' की पदवी से विभूषित किया है. 'सूरि' कहलाने की परम्परा प्राचीन नहीं है. कल्पसूत्र स्थविरा-वली, नन्दीसूत्र पट्टावली और मथुरा के शिलालेखों में किसी भी आचार्य का 'सूरि' के रूप में उल्लेख नहीं है. डा० देव का मत है कि आचार्य के स्थान पर सूरि शब्द का प्रयोग मध्यकाल से ही अधिकांश रूप में नजर आता है.[3]

पउमचरियं में जिनमन्दिर बनवाने व प्रतिष्ठा करवाने का काफी आग्रह है. कई स्थानों पर इस सम्बन्ध में उपदेश दिये गये हैं. (पउम-८-१६७, ४० ६, ८९. ५१) तीर्थंकरों की मूर्त्तियों की पूजा में अष्टद्रव्य का प्रचलन हो चुका था. भरत को उपदेश देते हुए एक मुनि बतलाते हैं कि पुष्प, धूप, चन्दन, सुगन्धितद्रव्य, दीप, दर्पण, अभिषेक, नैवेद्य इत्यादि से भगवान् की पूजा करने पर अत्यन्त पुण्य का उपार्जन होता है और अच्छी गति प्राप्त होती है (पउम०-३२ ७२-८१). भगवान् के अभिषेक करने की बहुत महिमा बतायी गयी है और अभिषेक के कई उदाहरण इस ग्रंथ में उपलब्ध हैं. कल्याणविजयजी का मन्तव्य है कि पूर्वकाल में जल का उपयोग आचमन के रूप में था, स्नान के रूप में नहीं. अभिषेक, विलेपन इत्यादि बाद की परम्पराएँ हैं. पउमचरियं के अनुसार वैसे तो मुनि लोग वन, उपवन, उद्यान, उपत्यका, गुफा और चैत्यों में ठहरते थे परन्तु जिन-मन्दिरों में ठहरने की प्रथा भी चल पड़ी थी (पउम० ८९. १४, १८ २०) ! इस प्रकार चैत्यवास की झलक पउमचरियं में मिलती है. कल्याणविजयजी का अभिप्राय है कि जीर्णोद्धार, प्रतिष्ठा, साधुओं का जिन-चैत्यों में ठहरना इत्यादि विषय विक्रम की पाँचवीं शती से प्रचलित हुए जान पड़ते हैं.[4]

पउमचरियं महाराष्ट्री प्राकृत भाषा में निबद्ध है और वह काफी विकसित रूप में है. साथ ही साथ उस पर उस समय की बोलचाल की भाषा का प्रभाव भी है. इस बोलचाल की भाषा की जो विशेषताएँ दृष्टिगोचर होती हैं, उनसे विश्लेषण करने पर मालूम होता है कि वे ही आगे चलकर अपभ्रंश की मूल प्रकृतियाँ बन गयीं. इस क्षेत्र में निम्न-लिखित विशेषताएँ ध्यान देने योग्य हैं :

अव्ययों के साथ-साथ नामवाची रूपों तथा क्रियापदों में लघु और दीर्घ स्वरों का वैकल्पिक प्रयोग व श्रुति के बीसों उदाहरण. क्रिया के पूर्वकालिक रूपों में 'एवि' प्रत्यय का तीन बार प्रयोग. कम से कम दस बार 'किह' और 'कवण' 'कथ' और 'किं' के स्थान पर प्रयोग. नाम के प्रथमा व उससे भी अधिक द्वितीया एक वचन विभक्ति के लोप के यत्र-तत्र फैले हुए उदाहरण. स्त्रीवाची 'आकारान्त शब्दों में पच्चीस प्रतिशत और इकारान्त तथा उकारान्त शब्दों में पचास प्रतिशत के औसत से द्वितीया एक वचन विभक्ति का लोप. अनुस्वार सहित अंतिम लघु स्वर के स्थान पर दीर्घ स्वर आने के कुछ उदाहरण. उसभ व नाम शब्द के तृतीया विभक्ति के दो उदाहरण 'उसभे' व 'नामे' और उपमा व उत्प्रेक्षा अलंकार में सूचक शब्द 'णज्जइ' का प्रयोग.

---

१. डा० हीरालाल जैन, भारतीय संस्कृति में जैनधर्म का योगदान, पृ० ८३, ९५, ९६. कल्याणविजयजी—वही, पृ० ३४६.

२. डा० एस० बी० देव—हिस्टरि आव जैन मोनासिज्म, पृ० १८७, ५६३.

३. वही पृ० २३२, २३७, ५१४.

४. श्रमण भगवान् महावीर, पृ० ३०४, ३०५.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पउमचरियं की भाषा जिस लोकभाषा से प्रभावित हुई है. उसको देखते हुए इसका रचना-समय ईसा की प्रथम शताब्दियों में नहीं रखा जा सकता. इस ग्रंथ में प्रयुक्त गाथा छन्द भी इतने उत्कृष्ट रूप में है कि वह सूक्ष्म से सूक्ष्म लक्षणों की कसौटी पर कसा जा सकता है. इन सभी उपरोक्त तत्त्वों के आधार पर पउमचरियं का रचनाकाल ईशा की प्रथम शताब्दी उचित नहीं ठहरता जैसा कि प्रशस्ति में कहा गया है. अनेक प्रमाण यह साबित करते हैं कि इस ग्रन्थ पर विक्रम की पांचवीं शताब्दी के आस-पास के वातावरण का प्रभाव है.

पउमचरियं की परवर्ती सीमा निश्चित करने के लिए अब हम उद्योतनसूरि और रविषेण का सहारा लेंगे. उद्योतनसूरि अपने ग्रंथ कुवलयमाला[१] में, जिसका रचना काल ७७८ ईस्वी सन् है, विमलसूरि के पउमचरियं का उल्लेख करते हैं. इससे एक तो यह प्रमाणित होता है कि पउपचरियं आठवीं शती के पूर्व की रचना है, दूसरा यह कि यदि यह रचना बहुत पुरानी होती तो अन्य स्थान पर किसी पुराने ग्रंथ में इसका उल्लेख अवश्य होना चाहिए था. उद्योतनसूरि ने रविषेण को भी स्मरण किया है. पद्मचरितम् रविषेण का संस्कृत ग्रंथ है. पउमचरियं और पद्मचरितम् की तुलना करने पर स्पष्ट प्रतीत होता है कि एक ग्रंथ किसी दूसरे का रूपान्तर मात्र है. पं० नाथूराम प्रेमी ने यह सिद्ध किया है कि रविषेण ने अपना पद्मचरितम् पउमचरियं के आधार पर ही रचा.[२] इसी मान्यता को दृढ़ करने वाले कतिपय नये प्रमाण प्रस्तुत करने योग्य हैं. पउमचरियं में हनुमान् के जन्मसंबन्धी नक्षत्रों और लग्न का जो विवरण है वह ज्योतिषशास्त्र की दृष्टि से गलत है जबकि रविषेण के पद्मचरितम् में वही वर्णन त्रुटिहीन है. यदि विमलसूरि के ग्रंथ का आधार पद्मचरितम् होता तो उसमें त्रुटि आने की कोई गुंजायश नहीं थी. मालूम होता है कि रविषेण ने यह त्रुटि सुधार ली है. ऐसा ही एक और उदाहरण है. पउमचरियं में भरत और भुवनालंकार हस्ती के पूर्व भवों का वर्णन आता है (पउम० ८२-१७-१२१). आधे कथानक तक तो हस्ती को अपने पूर्वभवों में मायावी बताया गया है जो कि तिर्यंच योनि में भव प्राप्त करने के लिए उचित भी है, परन्तु बीच में त्रुटि रह जाने के कारण बाद में हस्ती के अन्य पूर्वभवों का सम्बन्ध भरत के पूर्वभवों से जुड़ गया है. पद्म-चरितम् में ऐसा नहीं है. उसमें हस्ती के ही सभी पूर्व भवों में मायावीपन है. भरत के पूर्वभवों में नहीं. स्पष्ट है कि रविषेण ने पउमचरियं की इस असंगति को अपने पद्मचरितम् में सुलझा दिया है (पद्म०८५ २८-१७३). एक अन्य कथानक में राजा का नाम पद्मचरितम् (पर्व ५) के अनुसार विद्युद्दंष्ट्र है और प्रथम पर्व में विषय की जो सूची है उसमें भी यही नाम है. पउमचरिय में वही नाम सब जगह विज्जुदाढ है, परन्तु पद्मचरितम् में कथानक के उत्तर भाग में उसी को विद्युद्दृढ़ कहा गया है (पद्म० ५, ३०, पउम० ५-२०-४१).

स्पष्ट है कि यह नाम प्राकृत विज्जुदाढ का गलत रूपान्तर है जो कि रविषेण ने पूर्वापर का ध्यान रखे विना पउमचरियं के नाम के आधार पर अपनाया है, अन्यथा एक व्यक्ति के दो भिन्न नाम कैसे ? पउमचरियं में एक कथा आती है जिसमें दो कास्तकार भाइयों का वर्णन है और उनको 'सहोयरा करिसया' कहा गया है (पउम० ३६,६८). रविषेण ने शायद नहीं समझने के कारण या भ्रान्त पाठ होने के कारण उन दो भाइयों के नाम 'सुरप' और 'कर्षक' कर दिये हैं (पद्म० ३६, १३७). कुछ व्यक्तियों के नामों का अध्ययन करने से पता चलता है कि रविषेण ने अपनी कृति में छन्दों के वर्गों का नियमन करने के लिए पउमचरियं में आये हुये नामों के लिए पर्यायवाची शब्दों का प्रयोग किया है, क्योंकि पद्मचरितम् के नामों को यदि विमलसूरि वैसे के वैसे रखते तो भी उनके मात्रा छन्द में कोई त्रुटि नहीं आती थी, परन्तु रविषेण के साथ यह स्थिति नहीं थी (उदाहरणार्थ-पउम-अरिदमणो जलन-जडी, रिउमहणो-अक्कतेओ-पद्मः-अरिध्वंसो वह्निजटी, अरिमर्दनः, वह्नितेजाः) इसके दोनों ग्रंथों में पांचवां अध्याय ध्यान देने योग्य है.

रविषेणाचार्य कट्टर दिगम्बर थे यह सुविदित है. दिगम्बर परम्परा में दाशरथी राम यानि आठवें बलदेव राम के नाम से ही परिचित हैं, नवें बलदेव यानि कृष्ण के भाई का नाम पद्म पाया जाता है. यदि पद्मचरितम् मौलिक रचना

१. पृ० ३, पंक्ति २७, कुवलयमाला—डा० ए० एन० उपाध्ये.

२. जैन साहित्य और इतिहास (१९५६), पृ० ९०.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

होती तो रविषेण, सांप्रदायिक भावना को देखते हुए, अपने ग्रन्थ का नाम रामचरितम् ही रखते न कि पद्मचरितम्. जहाँ-जहाँ पर भी त्रेसठ शलाकापुरुषों के संदर्भ आये हैं वहाँ-वहाँ पर बलदेवों के व्यक्तिगत नामों के उल्लेख छोड़ दिये गये हैं, क्योंकि यदि उनके नाम अपनी परम्परा के अनुसार गिनाते तो वह मान्यता उनके ग्रन्थ के नामकरण से विपरीत ही ठहरती. इन सब मुद्दों के आधार पर कहने की आवश्यकता नहीं कि पद्मचरितम् पउमचरियं का संस्कृत रूपान्तर मात्र है. पद्मचरितम् का रचनाकाल ईस्वी सन् ६७७ है, अतः पउमचरियं इससे पूर्व की रचना होनी चाहिए.

पउमचरियं के अन्त:परीक्षण तथा अन्य बाह्य आधारों पर से इतना सुनिश्चित हो जाता है कि यह रचना पांचवीं शती के पूर्व की नहीं और सातवीं शती के बाद की नहीं. अब प्रश्न यह उठता है कि प्रशस्ति में दिये गये महावीर निर्वाण के ५३० वें वर्ष से क्या अर्थ निकालना चाहिए ? मालूम होता है कि यह महावीर-निर्वाण का संवत् नहीं होकर और कोई दूसरा संवत् होना चाहिए. इस दृष्टि से शकसंवत् और कृत या विक्रमसंवत् विचारणीय है. शक संवत् के अनुसार पउमचरियं का रचनाकाल ६६५ ईस्वी होगा जो रविषेण के पद्मचरितम् से बारह वर्ष पूर्व ठहरता है. इस संवत् को मानने में एक प्रबल आपत्ति आती है. आचार्य रविषेण के ग्रन्थ को पढ़ने से मालूम होता है कि वह एक सांप्रदायिक ग्रन्थ बन गया है. उसमें अनेक स्थानों पर दिगम्बरत्व का प्रदर्शन है. दीक्षा को भी दैगम्बरी दीक्षा कहा गया है.

पउमचरियं में इस विषय संबंधी उदारता है. किसी संप्रदायविशेष की ओर आग्रह नहीं है. सिर्फ एक ही स्थान पर श्वेताम्बर साधु का उल्लेख आ जाने से सांप्रदायिकता नहीं आ जाती. महत्त्व की बात तो यह है कि वे किसी संप्रदाय का पक्ष लेते हैं या नहीं. ग्रन्थ में वर्णित अनेक तत्त्वों का पृथक्करण आज भी प्रचलित परम्पराओं की दृष्टि से किया जाय तो श्वेताम्बर, दिगम्बर और यापनीय सभी संप्रदायों का उस ग्रन्थ में समावेश हो जाता है. इसीलिए कुछ विद्वान् विमलसूरि को अपने-अपने संप्रदाय का सिद्ध करने के लिए तत्-तत् तत्त्वों का सहारा लेते हैं. वास्तव में बात यह है कि विमलसूरि के ऊपर सांप्रदायिकता का कोई प्रभाव नहीं है. उन्होंने जो कुछ सुना, देखा, पढ़ा और परम्परा से प्राप्त किया उसी का वर्णन किया है. यहां तक कि कुछ वस्तुएँ तो दिगम्बर और श्वेताम्बर दोनों परम्पराओं के प्रतिकूल जाती हैं और कुछ उनके अपने पूर्व कथन के भी विपरीत पड़ती हैं. कल्याणविजयजी का अभिप्राय है कि सांप्रदायिक पृथक्करण की प्रथा और एक दूसरे को श्वेताम्बर दिगम्बर कहने की परम्परा विक्रम की सातवीं शताब्दी से प्रचलित हुयी है.[1] इस कट्टरता का पउमचरियं में अभाव है जबकि पद्मचरितम् इस भेदपरक परम्परा का महत्त्वपूर्ण उदाहरण है और ध्यान देने योग्य है कि इस भेदपरक परम्परा को दृढ़ बनने में काफी समय गुजरा होगा, सिर्फ दस या पन्द्रह वर्ष में इतनी उग्रता नहीं बढ़ी होगी. दोनों संप्रदायों को यह मान्य है कि उनका विभाजन विक्रम की दूसरी शताब्दी में हो गया था, परन्तु इसका अर्थ यह नहीं कि उस विभाजन के तत्काल बाद ऐसी उग्रता आगयी होगी. इस कट्टरता का बीजारोपण एक तरफ कुन्दकुन्दाचार्य के समय से हुआ जान पड़ता है और इसके दृढ़ होने के प्रमाण दूसरी तरफ जिनभद्र के विशेषावश्यकभाष्य में प्राप्त होते हैं. इसलिए इन दोनों व्यक्तियों के बाद की तो यह रचना हो ही नहीं सकती. यदि ऐसा होता तो उस समय की परिस्थितियों का प्रभाव अवश्य पउमचरियं में उपस्थित रहता. कुन्दकुन्दाचार्य के बहुत पहले की यह रचना नहीं भी हो तो उनके आसपास या कुछ ही समय पूर्व या पश्चात् की होनी चाहिए.

दूसरी दलील यह है कि क्या सिर्फ बारह वर्ष पश्चात् ही रविषेणाचार्य एक उदारचरित कथा को दिगम्बर रूप देने की हिम्मत कर सकते थे ? क्या किसी भी क्षेत्र से आलोचना या विरोध होने का उनको भय नहीं था और विशेषत: उस अवस्था में जब कि उन्होंने विमलसूरि का प्रत्यक्षत: स्मरण भी नहीं किया था. संभव यह प्रतीत होता है कि पउमचरियं समान रूप से दोनों पक्षों को पर्याप्त समय तक मान्य रहा होगा और समय व्यतीत होते-होते जैसे-जैसे सांप्रदायिक कट्टरता बढ़ती गयी तब रविषेणाचार्य ने अपने सम्प्रदाय में रामचरित विषयक ग्रन्थ की आवश्यकता महसूस

१. श्रमण भगवान् महावीर पृ० ३०५.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

की होगी और उन्होंने पद्मचरितम् की रचना से उस अभाव को पूरा किया. प्रश्न यह भी हो सकता है कि श्वेताम्बरों ने भी अपना पृथक् सांप्रदायिक ग्रंथ क्यों नहीं रचा ? इसका उत्तर स्वयं श्वेताम्बरीय परम्परा में विद्यमान है. आगम साहित्य के जो भी पुराने ग्रंथ थे उन सबको श्वेताम्बरों ने अपनाये रखा, चाहे भले ही उनमें श्वेताम्बरीय कट्टरता के विरोध की भी बातें हों, परन्तु भेदभाव और कट्टरता बढ़ने पर दिगम्बरों ने उन ग्रन्थों को अप्रामाणिक घोषित करके अपने लिए पूर्व भित्ति पर नये ही साहित्य की रचना की. इस दृष्टि से श्वेताम्बरों को यह अभाव खटक ही नहीं सकता था और उनको अलग कृति रचने की आवश्यकता भी नहीं पड़ी होगी. इस तरह से ५३० शक संवत् विवादास्पद हो जाता है और उसको मानने में आपत्तियां आकर खड़ी हो जाती हैं. तब फिर यही मान्य हो सकता है कि ये ५३० वर्ष कृत संवत् के यानि विक्रम संवत् के होने चाहिए.

उचित यही जान पड़ता है कि या तो किसी लिपिक ने इच्छापूर्वक या किसी भूल के कारण इसे विक्रम संवत् में परिवर्तित कर दिया है. ऐसी भूल का परम्परागत एक उदाहरण भी उपलब्ध है. प्रबन्धकोष में वल्लभी के पतन का समय महावीर निर्वाण ८४५ दिया गया है जबकि विविधतीर्थकल्प में विक्रम संवत् ८४५ बतलाया गया है.[१] वास्तव में इसे विक्रम संवत् मानना ही ठीक है. विक्रम संवत् के अनुसार पउमचरियं का रचना काल ५३०-५७-४७३ ईस्वी सन् आता है जो सभी दृष्टियों से उचित ठहरता है और यही पउमचरियं की रचना का प्रामाणिक समय माना जाना चाहिए.

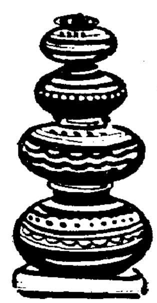

२. हरिप्रसाद शास्त्री, मैत्रक कालीन गुजरात, भाग १, पृ० १५७.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org